Original Article
ISSN (Online): 2582-7472

ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts
July-December 2022 3(2), 693-698

Cultural genre and Indian knowledge tradition

सांस्कृतिक विधा एवं भारतीय ज्ञान परम्परा

Dr. Krishna Chand Pandey

डॉ. कृष्ण चंद पांडे

Assistant Professor
Dr. Bhadanta Anand Kausalyayan Center for Buddhist Studies, M.Sc. The village. a. Hi. v. V., Wardha.

Corresponding Author
Dr. Krishna Chand Pandey
डॉ. कृष्ण चंद पांडे

DOI:

https://doi.org/10.29121/shodhkosh.v3.i2.2022.2656

Funding: This research received no specific grant from any funding agency in the public, commercial, or not-for-profit sectors.

Copyright: © 2024 The Author(s). This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License.

With the license CC-BY, authors retain the copyright, allowing anyone to download, reuse, re-print, modify, distribute, and/or copy their contribution. The work must be properly attributed to its author.

OPEN ACCESS

ABSTRACT

English: Broadly speaking, culture can be called the way of life of a country or a people. Scholars of anthropology and sociology consider culture as a manifest characteristic of the way of life of a historical people and society and target it more or less, sometimes coherently and sometimes incoherently, in all dimensions of life such as customs, behavior, knowledge, science, arts and crafts etc. From their point of view, organized society is the basic entity, culture is its dependent characteristics of values, limits and rules, symbols and duties.

Hindi: स्थूल रूप से संस्कृति को किसी देश या जनता की जीवन-विधा कहा जा सकता है। नृतत्त्वशास्त्र और समाजशास्त्र के विद्वान संस्कृति को किसी ऐतिहासिक जन और समाज की जीवन-विधा के रूप में प्रकट विशेषता मानते हुए उसे रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, ज्ञान-विज्ञान, कला और शिल्प आदि सभी जीवन के आयामों में न्यूनाधिक रूप से कभी सुसंगत और कभी विसंगत रूप से लक्षित करते हैं। उनकी दृष्टि से संघठित समाज ही मूल सत्ता है, संस्कृति उसके मूल्य, मर्यादाएँ और विधि-विधान, प्रतीक और कर्तव्य की परतंत्र विशेषताएँ हैं।

Keywords: Culture, Indian, Knowledge, Tradition

स्थूल रूप से संस्कृति को किसी देश या जनता की जीवन-विधा कहा जा सकता है। नृतत्त्वशास्त्र और समाजशास्त्र के विद्वान संस्कृति को किसी ऐतिहासिक जन और समाज की जीवन-विधा के रूप में प्रकट विशेषता मानते हुए उसे रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, ज्ञान-विज्ञान, कला और शिल्प आदि सभी जीवन के आयामों में न्यूनाधिक रूप से कभी सुसंगत और कभी विसंगत रूप से लक्षित करते हैं। उनकी दृष्टि से संघठित समाज ही मूल सत्ता है, संस्कृति उसके मूल्य, मर्यादाएँ और विधि-विधान, प्रतीक और कर्तव्य की परतंत्र विशेषताएँ हैं।

How to cite this article (APA): Pandey, C.K. (2024). Cultural genre and Indian knowledge tradition. *ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts, 3*(2), 693-698 DOI: https://doi.org/10.29121/shodhkosh.v3.i2.2022.2656

इसके विपरीत भारतीय परंपरा और दृष्टि से संस्कृति को स्वचेतन की वृत्ति कहा जा सकता है। संस्कृति व्यष्टि चेतन के सम्यक् अविष्कार और अवबोध के पश्चात समष्टि के सृजन और अंगीकार की प्रक्रिया में पर्यवसित होता कर्म-व्यापार है, कर्म ही शुभ संकल्प और चेतना से जुड़कर संस्कृति का मूल बनता है, उसका व्यापार ही सांस्कृतिक विधाओं के रूप में अभिव्यक्ति पाता है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है, संस्कृति की अवधारणा आत्म की अवधारणा से व्याख्यायित होती है| आत्म अपने को विषय और विषयी के द्वैत में विभक्त करता है| उसका विषयी होना चैतन्य होना है जिसकी पराकाष्ठा उसके सत्-चित-आनंद रूप में अवस्थिति है जहाँ द्वैत का भेद मिटता है और विषयी ग्राहक अथवा व्यक्ति निष्ठ आत्म का विसर्जन करता है और सर्वात्म में प्रतिष्ठित होता है|

यह आत्म जब चैतन्यवत जगद-भाव में अपना सर्जन करता है तब वह संस्कृति के रूप में अमूर्तवत मूर्त होता है| इस प्रकार संस्कृति को चैतन्यवत/आत्म कहा जा सकता है| यह चैतन्य जहाँ भी प्रकट होता है वहाँ संस्कृति के चिन्ह दिखाई देते हैं| वह कभी समुदायिक सदाचार, कभी शास्त्र, कभी कला और कभी मूल्य के रूप में प्रकट होता है| यहाँ यह स्पष्ट करना होगा कि चैतन्य आत्म से पृथक कोई धर्म नहीं है अपितु वह अपने प्रकृति के अनुरूप विषयों का निर्माण करती है, उन्हें रूप देती है और इस क्रम में स्वयं रूपायित होती चलती है| परन्तु चेतना की विषयाकारता उसके मूल स्वरुप को आछन्न भी करती है| विषयों के नानात्व में उसका अपना स्वरुप तिरोहित होता जाता है| इस स्थिति में विषय को आत्म समझ लेने की भूल होती है अथवा यह भी एक विप्रतिपत्ति होती है कि सर्वथा कोई आत्म है ही नहीं| संस्कृति का कार्य यहीं महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह बाह्य विषयों की ओर उन्मुख मनुष्य की चेतना को उसके आत्म अनुसन्धान में प्रवृत्त करें और स्वयं अपने भविष्य के लिए पाथेय सुनिश्चित करे | मनुष्य के आत्म की पर्येषणा, उसके चेतना का परिशीलन संस्कृति का प्राण तत्त्व है | इसी तत्त्व के सहारे उसका रूप अधिष्ठित होता है और वह सबको प्राणवंत करती है| मनुष्य की व्यक्तिगत पूर्णता की तलाश और उसकी प्राप्ति संस्कृति की भी पूर्णता की तलाश और उसकी प्राप्ति है| इसीलिए सारी संस्कृतियाँ सदा सार्वभौमता को सरकती हैं और पूर्णता को प्राप्त करती हैं|

भारतीय संस्कृति इन्ही भावों से परिभाषित हो सकती है अथवा होती है| इस संस्कृति के मूल उत्स और तत्त्वों का अनुसन्धान सही अर्थों में आत्म और विविधाकर जगत में पर्यवसित होती उसकी सत्ता का ही अनुसन्धान है| इस अनुसन्धान की दो दिशाएँ हो सकती हैं| पहली यह कि आत्म का अंतर्मुख परिशीलन करते हुए उसके मूल

तत्त्व अथवा स्वभाव के अनुसन्धान और अवगति द्वारा मनुष्य की विकास यात्रा, उसके समाज और इतिहास का परिक्षण किया जाये | दूसरा समाज के मूल तत्त्वों की पहचान एवं उन तत्त्वों कि पूर्वा-पर व्यवस्था द्वारा, उसकी मूल्य अभिव्यक्तियों के माध्यम से, उसके आत्म तत्व या बीज तत्व तक पहुँचा जाये| इन दोनों ही दिशाओं से संस्कृति कि अवधारणा को समझा जा सकता है|

संस्कृति की अवधारणा को समझने का एक और पक्ष है | यह पक्ष संस्कृति के व्याख्या के अधिक प्रचलित ढंग से सम्बंधित है| यह ढंग आधुनिक काल में विज्ञान के अवतरण एवं वैज्ञानिक चिंतन तथा पद्धति के दबाव से व्युत्पन्न है| संस्कृति की इस प्रचलित व्याख्या के ढंग में एक प्रत्यक्षवादी आग्रह है| वह संसार की प्रत्येक वस्तु को, उसके भौतिक अस्तित्व को कार्य-कारण-श्रृंखला में डालकर समझना चाहती है अथवा समझती है| यद्यपि भौतिक विश्व की व्याख्या का यह निश्चय ही सटीक माध्यम है कि हम सापेक्षिक एवं परतंत्र-जड़ जगत को किसी आत्म तत्त्व से पृथक कर, उसे कार्य-कारण के एक सार्वभौम नियम में उपन्यस्त कर समझना चाहे | यह सच है कि हर कार्य के हेतु रूप में कोई कारण होता है, कार्य बिना कारण के नहीं होता परन्तु यह भी सत्य है कि कारण-कार्य का नियम सभी धर्मों पर सामान रूप से लागू नहीं होता| यह भी सत्य है कि विश्व जड़ वस्तुओं का संग्रह मात्र नहीं है, न ही वह वैसी सापेक्ष और परतंत्र है जैसी हम उसकी कल्पना अथवा व्याख्या करते हैं| ऊपर यह कहा गया था कि चेतना ही जब जगद भाव में अपना सर्जन करता है, तब वह संस्कृति का रूप धारण करता है | यहाँ चेतना के कई स्तर अथवा तल मानाने होंगे | उसका एक स्तर कार्य-कारण श्रृंखला से मुक्त और निरपेक्ष मानना होगा| चेतना का यह स्तर विज्ञान के आतंक से आतंकित, आधुनिक समाजविज्ञान की दृष्टि से पोषित किसी मनुष्य के प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता अपितु यह लोक सम्मत, शास्त्र विहित, साधना से उपार्जित योगी-प्रत्यक्ष का ही विषय होता है| यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि हम वही देखते हैं जो हम देखना चाहते हैं अथवा हम उतना ही देखते हैं जितनी हमारी सीमा है| इस रूप में यदि किसी व्यक्ति का जगत से तादात्म्य सम्यक न हो और वह उसे सर्वथा भौतिक, सापेक्ष और परतंत्र माने तो वह उसे चेतना के स्तर अथवा तल अथवा यह कहे कि यह उसके चैतन्यता की कोटि पर निर्भर करेगा| दृष्टी की इन सीमाओं के बावजूद यदि किसी व्यक्ति की व्याख्या ठीक उसी प्रकार से की जाये जैसे हम किसी बाह्य वस्तु की करते हैं- भौतिक, सापेक्ष और पूर्णतः परतंत्र रूप में, तो वह निश्चय ही इसका विरोध करेगा | कोई भी व्यक्ति निश्चय ही न तो केवल भौतिक है, न सापेक्ष और न ही पूर्णतः परतंत्र| प्रत्येक व्यक्ति में स्वातन्त्र्य-बोध और उसकी अभीप्सा रहती है|

यह अभीप्सा पाशविक एवं दैहिक सीमाओं की ही स्वतंत्रता से सम्बंधित नहीं होता बल्कि वह अविद्या कर्म और भवचक्र से भी मुक्त होना चाहता है| उसकी स्वतंत्रता की यह खोज ही संस्कृति का विनिर्माण करती है|

उसके स्वतंत्रता की पर्येषणा उसके अपने स्थायी अस्तित्व की ही पर्येषणा है| अपने सत्ता, परमता और सहजता की पर्येषणा रही है| इसी क्रम में उसने अनेक तत्त्वों का विनिर्माण किया है, भाषा उनमे से एक तत्त्व है| यहाँ यह स्मरणीय है कि वाक् के रूप में चैतन्य का वरद हस्त सदा मनुष्य के साथ रहा है और मनुष्य ने उसका व्यापकतम उपयोग भी किया है| वाक कोई संस्थान नहीं है वह चैतन्य की ही स्फूर्ति है| मनुष्य अपने स्तर भेद, काल एवं सन्दर्भ भेद के अनुसार वाणी के रूप में उसका उपयोग करता है| यह भेद उसके स्वातंत्र्य बोध एवं संस्कृति से परिचालित होती है और उसे प्रभावित भी करती है| भाषा की ही तरह कला भी संस्कृति का निर्माण करती है, उससे परिचालित होती है, उसकी वाहक होती है| यहाँ यह कहने का अर्थ बस यही है कि मनुष्य की स्थायी अस्तित्व पर्येषणा, उसके सत् स्वरुप की पर्येषणा, उसके स्वंत्रता की खोज ही संस्कृति में पर्यवसित होती है, एवं इस पर्येषणा, इस खोज की अभिव्यक्ति ही सांस्कृतिक विधा के रूप में अभिव्यक्ति पाती है | यह पर्येषणा जितनी गंभीर और साधऩात्मक होगी उसका बाह्य प्रकटीकरण उतना ही सशक्त और स्थायी होगा|

इस प्रकार स्थूल रूप में संस्कृति को किसी समाज अथवा देश की जीवन-विधा से परिभाषित करते हैं, जबकि वास्तविक अर्थ में यह विवेक एवं दृष्टि सम्पन्न चेतना की, गुणाधान एवं शील विशुद्धि की प्रक्रिया द्वारा आत्म बोध और सामाजिक बोध का प्रकार है, एवं उस बोध की अवगति के द्वारा अंगिकृत समग्र जीवन विधा की एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। इस रूप में संस्कृति 'संस्कार' की एक प्रक्रिया हो जाती है।

अपने व्यापक अर्थ में शिक्षा ही संस्कार का मूल है। वही मानव स्वभाव को ज्ञान, अनुशासन और निपुणता के अभ्यास से उसे संस्कृत बनाती है। ज्ञान-विज्ञान और काव्य-कलात्मक संस्कृति शिक्षा परम्परा से उपजती, संरक्षित और संवर्धित होती है। एक युग था जब भारत में शिक्षा के लिए दूर देशों से उच्च शिक्षार्थी आते थे और भारतीय विद्वान अन्य देशों में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार करते थे। 9वीं शताब्दी तक पेशावर के बौद्ध विहारों में कोरिया से आए विद्यार्थियों का उल्लेख मिलता है। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय शिक्षा, भारत व्यवस्था के विषय में अंग्रेज़ों के द्वारा संकलित सूचना से जो जानकारी प्राप्त होती है, उससे स्पष्ट होता है कि भारत में शिक्षा की अत्यंत समुन्नत दशा थी, यहाँ तक कि प्रारम्भिक शिक्षा का आश्चर्यजनक प्रसार था, शिक्षा और

संस्कार की प्रक्रिया में समाज का निचला वर्ग भी शामिल था, किंतु जैसा कि सुविदित है, मैकाले की नीति के द्वारा अंग्रेज़ों ने इस शिक्षा पद्धति का विस्तार करने के स्थान पर इसे आरम्भिक स्तर पर नष्ट कर दिया और शास्त्रीय और ज्ञान सृजन की प्रक्रिया के स्तर पर उसे जीवन-प्रवाह से अलग कर पारम्परिक ज्ञान के पुनरावर्तन तक सीमित कर दिया।

शिक्षा का पहला सार्वभौम सोपान है मातृभाषा का सम्यक् ज्ञान। भाषा संस्कृति की भी अनिवार्य घटक है, अथवा उसके विनिर्माणकारी तत्त्वों में से एक है, जैसा कि ऊपर प्रतिपादित किया गया है। अतः मातृभाषा की शिक्षा और मातृभाषा में शिक्षा, शिक्षा के उद्देश्यों और माध्यमों में सर्वप्रमुख है और होना चाहिए। इसी प्रकार गणित भी सभी विज्ञानों की सार्वभौम भाषा है, और उसकी शिक्षा का आरम्भ प्राथमिक रूप से प्रारम्भिक शिक्षा से ही हो जाता है। प्रारम्भिक शिक्षा में इन दोनों भाषाओं के बीच और पूरक के रूप में कलाओं और सांस्कृतिक विधाओं की शिक्षा का बीज पड़ना चाहिए और उसका आरम्भ होना चाहिए। किंतु ऐसा होता नहीं है, यद्यपि प्रारम्भिक एवं उसके बाद के चरण अर्थात् माध्यमिक शिक्षा में औपनिवेशिक युग के बाद के लगभग 50 वर्षों में बहुत परिवर्तन किए गए हैं। ऐसा इसलिए था कि इन परिवर्तनों का मुख्य उद्देश्य विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देना था। इस सरकारी प्रोत्साहन का फल यह हुआ कि शिक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष, और सांस्कृतिक विधावों के आधारभूत मूल घटकों में एक, भाषा, की ही शिक्षा गौण हो गयी। भाषा, मातृभाषा और सारी भारतीय भाषाओं के ऐक्य की और उस ऐक्य के अंत:सूत्र के रूप में स्थित भाषा, अर्थात् संस्कृत के ही शिक्षा के अभाव में शिक्षित जन भी अपनी संस्कृति और परम्परा से दूर होते गए। साथ ही समुचित शिक्षा और व्यवस्था के अभाव में मातृभाषा पर अधिकार न हो सकने से ज्ञान अथवा ज्ञानानुशासनों में मौलिक चिंतन और शोध की सम्भावनाएँ व अवसर क्षीण होते चले गए।

परम्परा अथवा संस्कृति का सबसे अधिक निर्वाह कलाओं, विशेषत: संगीत में होता है।सांस्कृतिक विधाओं में संगीत की केंद्रियता तथा संगीत और संस्कृति की अन्योन्याश्रयता सुविदित है। भारतीय संगीत के सुदीर्घ इतिहास में संगीत का ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा के रूप में अद्यतन चला आता है, किंतु खेद है कि संगीत की औपचारिक शिक्षा व्यवस्था वैसी व्यापक और दृढ़ नहीं है जैसी होनी चाहिए। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि संगीत और कलाओं की शिक्षा का भी बीज वपन मातृभाषा और गणित की तरह और उनके बीच से बाल्यावस्था से ही होना चाहिए जिससे संगीत अथवा अन्य सांस्कृतिक विधाओं के प्रति छात्रों की कलानुरागिता

बनी रहे। यह सच है कि जिनके पास प्रतिभा है वे संगीत की शिक्षा में प्रवेश करेंगे ही, किंतु उस शिक्षा की एक सांस्कृतिक भूमिका भी आवश्यक होती है। भारत की चल रही शिक्षा की प्रक्रिया और व्यवस्था में यह सांस्कृतिक भूमिका अनुपस्थित है। नृत्य भी संगीत की तरह से गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा ही सिख जाता है। अत: उसकी भी जो इस समय प्रमुख विधाएँ हैं, भरतनाट्यम्, ओडिसी, कुचिपुडी और कत्थक वे परम्परागत रूप से प्रचलित हैं, किंतु इन परम्पराओं का इतिहास जिस प्रकार की शोध की माँग रखता है, वह इसी सांस्कृतिक भूमिका की अनुपस्थिति और शिक्षा की दुर्व्यवस्था के कारण अभी शेष है।

भारतीय नृत्य भाव और रस को व्यक्त करने वाले संकेतोपपन्न अंगविन्यास के सौंदर्य पर केंद्रित है। उसमें देश विक्रमण और अंग संचालन की बलिष्ठता पर वैसा ध्यान नहीं है, जैसा पश्चिमी परम्परा में है। भारतीय नृत्य में देह और अंगों की स्थिरता और विन्यास के द्वारा आत्मबोध की वृत्तियों के प्रकाशन का महत्व है। इसीलिए ऊपर संस्कृति को आत्म अथवा चेतना की वृत्त कहा गया और उसे कर्मात्मक बताते हुए कलाओं और सांस्कृतिक विधाओं को उसका व्यापार अथवा प्रकाश प्रतिपादित किया गया है। नृत्य की तरह ही लोक नृत्य और लोक संगीत की भी विधाएँ संप्रचलित हैं जिनमें तरह-तरह की भाव-भंगिमाएँ और धुनें मिलती हैं और उनका भी अपना समृद्ध संसार है। नाट्य मंचन की परम्परा भी प्राचीन काल में विकसित होने पर भी मध्यकाल में ह्रास को प्राप्त हुई। यद्यपि लोक भाषाओं से जुड़े हुए उपरूपक अवश्य प्रचलित थे, किंतु सार्वजनिक स्थायीमंच लुप्तप्राय प्रतीत होते हैं। सबसे दुरावस्था चित्रकला की है, बंगाल स्कूल के उदय के साथ उसके पारम्परिक मूल्यों पर आसन्न संकट कुछ छटता हुआ प्रतीत हुआ, किंतु क्रमश: समसामयिक चित्रकला पर पश्चिमी परम्परा से आयातित तकनीक के अनुकरण और अंधानुकरण ने उस संकट को और गहरा दिया है, कारण यह है कि सांस्कृतिक विधाओं की अविच्छिन्नता और सृजनशीलता शिक्षा की समीचीन परम्परा पर निर्भर करती है और भारत की वर्तमान शिक्षापद्धति का आरम्भ मेकाले की नीतियों से हुआ। अंग्रेज़ों ने जो शिक्षा पद्धति लागू की वही परिवर्द्धन के साथ स्वाधीन भारत में अपना ली गयी। अंग्रेज़ी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह था कि भारतीयों में अपनी संस्कृति के प्रति अंदर के साथ पश्चिमी संस्कृति के प्रति आदर का भाव उत्पन्न हो। वर्तमान शिक्षा पद्धति में ये दोनों ही विशेषताएँ पूर्ववत चली आ रही थीं।